Indian J. Soc. & Pol. 06 (02):87-90 : 2019 **ISSN: 2348-0084(P)**
ISSN: 2455-2127(O)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय का 'एकात्म मानववाद' सम्बन्धी विचार

महेश कुमार सिंह[1]
[1]शोध–छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उ0प्र0, भारत

ABSTRACT

प्रस्तुत शोध–पत्र का मुख्य उद्देश्य 'पं0 दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद संबंधी विचार' का विशद् विश्लेषण प्रस्तुत करना है। वास्तव में 'एकात्म मानववाद' एक ऐतिहासिक विचार शृंखला की कड़ी के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसकी नूतन कड़ी पं0 दीनदयाल उपाध्याय प्रणीत् 'एकात्म मानववाद' है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का मानना है कि स्वतंत्र्योत्तर भारत में विचार मंथन की प्रक्रिया को भारतीय राजनीतिक दर्शन की संकलित प्रयत्न की दिशा में चिंतन को अग्रेतर करने की आवश्यकता है। भारत का अपना एक वैशिष्ट्य है कि वह विभिन्न मानवीय एवं सांस्कृतिक धाराओं को अपने में समाहित कर लेता है। जिसमें राजाराम मोहन राय से लेकर पं0 दीनदयाल उपाध्याय तक का पाश्चात्य एवं भारतीय जीवन दर्शन, व्यवहार व तत्वज्ञान का संघर्षपूर्ण कालखण्ड का वैचारिक वैशिष्ट्य नवरसायन 'एकात्म मानववाद' भारतीय प्रखर मनीषा का प्रतिनिधित्व करता है, जो भारत को भारत बनाए रखना चाहती है पर दुनिया से कट कर नहीं, जो भारत को आधुनिक बनाना चाहती है पर पश्चिम की प्रतिकृति नहीं, जो जागतिक ज्ञान–विज्ञान का उत्कर्ष चाहती है पर अध्यात्म को छोड़कर नही, जो संसार के नूतन प्रयोगों में योगदान करना चाहती है पर स्वयं को भूल कर नहीं।

KEYWORDS: *एकात्म मानववाद, सांस्कृतिक, नवरसायन, तत्वज्ञान, पदार्थवाद, परिवेष्टित, युगानुकूल*

वर्तमान में भारतीय चिंतन पटल पर भारतीयता के प्रतीक स्वरूप पं0 दीनदयाल उपाध्याय प्रणीत् 'एकात्म मानववाद' विश्लेषणीय है। वास्तव में पाश्चात्य प्रयोगों में लौकिक जीवन की वैशिष्ट्यता के भारतीयकरण की प्रक्रिया की फलश्रुति ही पं0 दीनदयाल उपाध्याय का 'एकात्म मानववाद' है। वे पाश्चात्य जीवन की श्रेष्ठता को चैतन्य होकर स्वीकार करते है। जिससे हम उसकी विकृति से प्रभावित न हो। उनका मानना है कि पाश्चात्य के मोह में लोग उसकी विकृति को नजर अंदाज कर रहे है, भारत को पश्चिम की अनुकृति बना रहे हैं जिससे समाज में एक संभ्रम उत्पन्न हो रहा है। इसलिए वे पाश्चात्य जीवन के अन्धानुकरण के प्रबल विरोधी है किन्तु वे सभी मानव प्रयत्नों का सम्मान करते हुए नूतन प्रयोगों में उनका उपभोग करना चाहते है। उनका मानना है कि, "विश्व का ज्ञान हमारी धाती है। मानव जाति का अनुभव हमारी सम्पत्ति है। विज्ञान किसी देश विशेष की बपौती नही, वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा। किन्तु भारत हमारी रंगभूमि है भारत की कोटि–कोटि जनता पात्र ही नहीं प्रेक्षक भी है। जिसके रंजन एवं आत्मसुख के लिए हमें सभी भूमिकाओं का निर्धारण करना है। विश्व प्रगति के हम द्रष्टा ही नही अपितु साधक भी है। अतः जहाँ एक ओर हमारी दृष्टि विश्व की उपलब्धियों पर हो, वही दूसरी तरफ हम अपने राष्ट्र की मूल प्रकृति, प्रतिभा एवं प्रवृत्ति को पहचान कर अपनी परम्परा और परिस्थिति के अनुरूप भविष्य के विकास क्रम का निर्धारण करने की अनिवार्यता को भी न भूले। 'स्व' के साक्षात्कार के बिना न तो स्वतंत्रता सार्थक हो सकती है और न वह कर्म चेतना ही जाग्रत हो सकती है जिसमें परावलम्बन व पराभूति का भाव न होकर स्वाधीनता, स्वेच्छा और स्वानुभवजनित सुख हो। अज्ञान, अभाव तथा अन्याय की परिसमाप्ति और सुदृढ़, सुसंस्कृत एवं सुखी राष्ट्र जीवन का शुभारम्भ सबके द्वारा स्वेच्छा से किये जाने वाले कठोर श्रम तथा सहयोग पर निर्भर है।"(उपाध्याय, 2015 पृ073) पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी अटल विश्वास रखते हुए तत्कालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में कहा है कि, "हिन्दमहासागर और हिमालय के परिवेष्टित भारतखण्ड में जब तक एकरसता, कर्मठता, समानता, सम्पन्नता, ज्ञानवता, सुख और शांति की सप्तजाह्नवी का पुण्य प्रवाह नही ला पाते, हमारा भगीरथ तप पूरा नहीं होगा।"(शर्मा, 2001,पृ0473) अपने राष्ट्रीय स्वत्व के साथ मानव सभ्यता की बेगवती धारा को समृद्ध करने की मनःस्थिति से जिस भारतीय संस्कृति को अपने चिंतन का आधार बनाया वही आधार स्वरूप 'एकात्म मानववाद' के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

'एकात्म मानववाद' पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के चिंतन का वह फलश्रुति है जिसके रूप में उन्होंने भारत के नूतन निर्माण का स्वप्न देखा। इस दृष्टि से उनका चिंतन सांस्कृतिक है, क्योंकि मूलरूप में वे एक राजनीतिक न होकर समृद्ध भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के संवाहक व जनसंघ के सजग प्रहरी थे। उनकी स्वाभाविक आस्था थी कि भारतीय संस्कृति, जो कि हिन्दू संस्कृति है उसके अनुकूल ही भारत का नूतन निर्माण होना चाहिए। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर यथास्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि, "हमने अपनी प्राचीन संस्कृति पर विचार किया है किन्तु हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं है जो किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बन कर बैठ जाये। हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव तथा सक्षम बनाना है। हमें अनेक रूढ़ियों को छोड़कर बहुत से सुधार करने होंगे।..... व्यवस्था का केन्द्र मानव होगा। भौतिक उपकरण उस मानव के सुख के साधन होंगे साध्य नहीं। मानव की परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता, सृष्टि और परमेष्टि से आत्मीय एकात्मकता होगी तथा मानव इन सभी से सह–अस्तित्व स्थापित करेगा।"(पांचजन्य,5 अक्टू02015, पृ0473)

1: Corresponding Author

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की दृष्टि रूढ़िवादी न होकर प्रगतिगामी थी। साथ ही उनकी दृष्टि भारतीय प्रकृति में समन्वयवादी थी। वे किसी विदेशी विचार को न तो एकदम हेय ही समझते थे, न ही हर स्वदेशी चीज को वरेण्य। इस सम्बन्ध में उनका ध्येय सूत्र था कि "हम मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें। इन तत्वों में जो हमारा है उसे युगानुकूल और जो बाहर का है उसे देशानुकूल ढ़ालकर हम आगे चलने का विचार करें।"(उपाध्याय,2014,पृ016) 'स्वदेशी' को युगानुकूल और विदेशी को 'स्वदेशानुकूल' बनाने की अपनी मनःस्थिति के कारण पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने कहा कि, "हम भारत को न तो किसी पुराने समय की प्रतिच्छाया बनाना चाहते है और न रूस या अमेरिका की अनुकृति।"(पाठक, 2009,पृ0121)

यद्यपि 'एकात्मता' भारतीय संस्कृति का केन्द्रस्थ विचार है। जिसमें पं0 दीनदयाल उपाध्याय का विचार 'एकात्म दर्शन' है किन्तु वह 'दर्शन' 'मानव' के लिए है। वे मानव को ईश्वर के विरूद्ध नहीं और न ही यंत्रवत् वरन् एक सम्पूर्ण एवं संवेदनशील इकाई के नाते प्रस्तुत करना चाहते है।(शर्मा, 2015 पृ075) पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने 'एकात्म मानववाद' में व्यष्टि एवं समष्टि के परस्पर सम्बन्धों को अपने दर्शन का विवेच्य विषय बनाया है। उनका मानना है कि "व्यष्टि के बिना समष्टि की कल्पना करना भी असम्भव है, समष्टि के बिना व्यष्टि का मूल्य शून्यप्राय है। क्योंकि व्यष्टि ही समष्टि के उपकरण एवं ज्ञान तन्तु हैं। व्यष्टि के विनाश या अविकास से समष्टि का पंगु हो जाना स्वाभाविक है। समष्टि की पूर्णता का माध्यम और माप व्यष्टि ही होता है। अतः इसकी साधना समष्टि की आराधना से परे नहीं हो सकती। शरीर के अभाव में किसी अंग की पूर्णता की कल्पना वैसे ही सम्भव प्रतीत नहीं होता जैसे कि शरीर को क्षति पहुँचाकर किसी अंग का सुख। फूल के अस्तित्व के पंखुडियों की शोभा बनाने में है तथा जीवन की साथर्कता पुष्प के साथ रहकर उसके स्वस्थ स्वरूप को बनाये रखने व उसे निखारने में ही है।(उपाध्याय, 2014,पृ0374)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति को 'शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय' मानते है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इनके अभाव में व्यक्ति की सुखानुभूति एवं व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। व्यक्ति की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। जिसकी पूर्ति आजीविका के साधन, शांति, ज्ञान एवं तादात्म्य–भाव से ही सम्भव है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की प्रबल इच्छा ही उसे समाज के हित में कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करती है।(उपाध्याय, 2014, पृ075)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय समाज एवं परिवार की उत्तम धारणा तथा सामान्य जीवन चलाने हेतु समाज के जनसामान्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की उत्तम रीति से पूर्ति को भी आवश्यक मानते है। ऐहिक सम्पन्नता की जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति की व्यवस्था समाज की नींव से होनी चाहिए। इन सब प्रकार की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नींव से प्रारम्भ करके ही ऊपर के लोगों की व्यवस्था की चिंता करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए ऊपर के जो लोग है, उनको मानव की सहज आवश्यकताओं में कुछ संयम रखना पड़े तो रखना चाहिए। ऐसी स्थिति में किसी को किसी से शिकायत नहीं होनी चाहिए। परन्तु चारित्र्य निर्माण का काम तो इससे उल्टा ही चलता है। सम्पूर्ण समाज में जो लोग उच्च वर्ग के कहे जाते है उनसे यह संयम सादगी तथा सदाचार का जीवन प्रारम्भ होकर समाज की नींव तक, धीरे–धीरे निर्झर झरता चला जाये, ऐसी जीवन बनाने की आज आवश्यकता है।(वही, पृ075)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय मानव जीवन को अर्थ–काम प्रधान मानते है। अर्थ प्राप्ति के बाद उसकी रक्षा और सम्बर्द्धन आवश्यक हो गया है। आवश्यक इसलिए है कि आज तक इच्छाओं की पूर्ति से कोई सन्तुष्ट नहीं हुआ है।इसी कारण इच्छाओं की तुष्टि हेतु अधिकाधिक साधन जुटाना, संग्रह करना, दूसरे की भूमि पर प्रहार कर उसके धन का अपहरण करना, यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। संसार मे चलने वाला उपभोगवाद इसी प्रबल लालसा का परिणाम है। प्राचीनकाल में भी महापुरूषों ने सामंजस्यपूर्ण विवेचन करके कहा कि केवल अर्थ–काम की उपासना करना पशुवत् जीवन है, आसुरी जीवन है, राक्षसी जीवन है, त्याज्य जीवन है लेकिन अर्थ–काम से सर्वथा मुक्त होना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी चाह तो प्रत्येक मनुष्य में थोड़ी बहुत मात्रा में रहेगी ही रहेगी। परन्तु उसके द्वारा जीवन असुरता न आये, इसकी उपाय योजना भी करने की आवश्यकता है।(उपाध्याय, 2014–ए, पृ082)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का यह अभिमत है कि भोग से इच्छा कभी सन्तुष्ट नही होती है जिस वस्तुओं के संग्रह करके मनुष्य सुख ढूढ़ने की अभिलाषा करता है उन वस्तुओं में तो सुख देने की किसी भी प्रकार की क्षमता ही नही होती है। वास्तव में सुख तो अपने पास है, बाहर से कुछ भी नही मिलता। हम तो अपने अज्ञानता के कारण यह कहते है कि उक्त वस्तु में सुख की अनुभूति है, किन्तु वास्तविकता तो यह होती है कि हम उस वस्तु को अभिप्राय बनाकर अपने ही आत्मिक महासागर के सुख को चखते है। इसी कारण यह कहा गया है कि बाहर किसी वस्तु में सुख निहित नही है, सुख तो अपनी अन्तरात्मा में परिपूर्णतः संचित है। "मुनष्य शरीरं सत्चित सुखम" अर्थात शरीर सत्य है, चेतनामय है, सुखमय है। हम अपने भीतर का ही सुख भोगते है तथा वाह्य वस्तु पर उसका प्रदर्शन करते है।(वही पृ084) वस्तुतः मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने आत्मिक सुख को पाना ही होता है। जैसा कि मूल सिद्धान्तों में महापुरूषों ने हमें पहले ही बताया है कि आत्मिक सुख की अनुभूति ही जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य सुख पाने के लिए ही जीता है। सुखानुभूति की उसके जीवन का परमलक्ष्य होता है।

अतः इहलौकिक बन्धन से मुक्त हो जाने वाला, बाह्य वस्तुओं की कामना से निर्वाध हो जाने वाला ही चिरन्तन सुख प्राप्त कर सकता है। इस सुख की प्राप्ति वाले मनुष्य के सारे बन्धन छूट जाते है क्योंकि किसी वस्तु की इच्छा हेतु उसका मन विचलित नही होता। यही बन्धन से मुक्ति का भाव है। यही व्यक्ति का चरम लक्ष्य भी होता है। परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तक तो उसे इहलौकिक सुखों की तृप्ति हेतु कुछ प्रयत्न करना ही पड़ेगा, किन्तु यह तृप्ति मनुष्य को अमर्यादित न कर दें, इसकी योजना भी करनी नितांत आवश्यक है। इसी निमित्त पुरूषार्थों की कामना की गयी है। जिस प्रकार सुखानुभूति हेतु व्यक्ति को मानसिक शांति और एकाग्रता की आवश्यकता होती है

ठीक उसी प्रकार व्यक्ति को अपना जीवन सुखमय, सुरक्षापूर्ण निर्बाध चलाने हेतु एक सुव्यवस्थित समाज की भी आवश्यकता होती है। यद्यपि समाज सुव्यवस्थित रूप से परस्पर आवद्ध है, एक दूसरे के कल्याण हेतु सभी प्रयत्नशील है। तो ऐसे समाज में रहकर आशान्वित जीवन व्यतीत करता हुआ व्यक्ति अपने चिरन्तन सुख की अनुभूति हेतु एकाग्रपूर्ण सहज प्रयत्नशील हो सकेगा। ऐसे समाज की एक योग्यतम् व्यवस्था का आधारभूत नाम ही धर्म है।वस्तुतः हम यह जानते है कि धर्म की जो सर्वप्रचलित एवं प्रसिद्ध व्याख्या की गयी है उसमें उद्धृत है कि, "जो समाज की धारणा करता है, समाज को सुव्यवस्था से रखता है, समाज के सभी प्रकार के लोगों को ठीक अपने–अपने कार्यों में लगाता हुआ समग्र समाज के अभ्युदय के लिए, रक्षा के लिए, श्रेष्ठ जीवन के लिए, सबके द्वारा परस्पर पूरकता से कर्म करवाने की जिसके अन्दर क्षमता है, वही धर्म है। ..... मन को संयमित कर, सुव्यवस्थित जीवन का निर्माण करे। अपने को सब प्रकार के अवगुणों से परावृत, पराङ्गमुख एवं निवृत्त करता हुआ, बुद्धि को नियंत्रित करे। इस प्रकार का संयमित जीवन जीना भी एक धर्माचरण है।(वही, पृ085.86) अतएव धर्म ही राष्ट्र की बुद्धि है। जिससे परिवार, समाज और राष्ट्र उत्तरोत्तर निर्मित एवं विकसित होते है। भूमि, जन, और संस्कृति इन तीनों तत्वों के संघात से उत्पन्न राष्ट्र की रक्षा अभिवृद्धि एवं समृद्धि जिन व्यवहारों से हो उनका अधिष्ठान ही धर्म है। धर्म से ही धारणा होती है। इससे ही अभ्युदय और निःश्रयेस की उपलब्धि होती है। व्यष्टि से समष्टि के हितों का सामंजस्य भी धर्म से ही होता है। "धर्म तो एक व्यापक चीज है। यह जीवन के समस्त पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। उसमें समाज की धारणा होती है। उससे आगे बढ़े तो सृष्टि की भी धारणा होती है। यह धारणा करने वाली जो चीज है, वही धर्म है।"(उपाध्याय, 2012, पृ041.42)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का मानना है कि "अपने भीतर के अनेक गुणावगुणों, विकारों को भली–भांति नियंत्रित करके मानसिक सुव्यवस्था का निर्माण करना भी धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस धर्म को अपने जीवन का आधार मानकर इसके अनुरूप अर्थ काम को नियोजित कर इस धर्म के सद्गुण–सम्पन्न जीवन का पूरी तरह से अपने भीतर आविष्कार करते हुए अन्तिम लक्ष्य की नित्य उपासना करते हुए अन्तिम पुरूषार्थ–मोक्ष–की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप है। यही परिपूर्ण मानव की कल्पना है। अर्थ–काम मात्र ही जिसके जीवन में है, वह अपूर्ण एवं विशृंखलित है। समाज की धारणा का विचार करने वाला, समाज पर आंच न आये– ऐसा गुणोंत्कर्ष रखने वाला, समाज में विकृति उत्पन्न न हो– इस मात्रा में अर्थोपार्जन और कामोभोग को मर्यादित करने वाला, और फिर संयमित एवं एकाग्रचित्त अन्तकरण से अपने मनोनुकूल किसी भी प्रकार की उपासना पद्धति या सम्प्रदाय का अवलम्बन कर, ईश्वर की किसी भी मूर्ति की उपासना द्वारा अंतिम लक्ष्य रूपी पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करने वाला ही परिपूर्ण मानव है, व्यवस्थित मानव है।(गोलवलकर, 2014,पृ086)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय चतुष्ट्य पुरूषार्थों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसे तरूणोपाय की संज्ञा प्रदान की है 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवन दर्शन ही हमें संकट से बचा सकता है। विश्व की समस्त समस्याओं का हल समाजवाद नही, हिन्दुत्ववाद है। यही ऐसा जीवन दर्शन है जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ो में विभक्त नहीं करता, अपितु सम्पूर्ण जीवन को एक ईकाई मानकर उसका विचार करता है।(पांचजन्य, 2जनवरी 1961) इसलिए समस्त व्यवस्था का हल 'एकात्म मानववाद' में समाहित है। इस प्रकार समन्वयात्मक, संगठित एवं एकात्मवादी कल्पना में व्यक्ति का व्यक्तित्व विभक्त नही हुआ..... इस चतुष्ट्य पुरूषार्थ ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक क्षमतानुसार अपना जीवनादर्श चुनने का अवसर दिया और साथ ही उनके व्यक्तित्व को अखण्ड बनाये रखा।(ठेंगड़ी, 2014, पृ0117)

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने प्रकृति, व्यक्ति तथा समाज के सहज सत्यों के विषय में वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा संस्कृति के तत्वों के निष्कर्ष पर 'एकात्म मानववाद' की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों को विवेचित किया। एकात्मकता, समग्रता, पूरकता तथा आत्मीयता की अभिधारणाओं में वे सत्य का दर्शन करते है। वस्तुतः जड़वाद के अधिष्ठान पर रचित संघर्ष, स्पर्धा, स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुता की पृष्ठिभूमि पर ही उन्होंने अपनी एकात्मवादी अभिधारणा को विवेचित किया है।(शर्मा, 2015, पृ0383) एक बौद्धिक वर्ग में 'एकात्म मानववाद' की व्याख्या करते हुए वे कहते है कि, "स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुता एक ही तत्व में अन्तर्निहित है, जिसे 'आत्मीयता' कहते है। मानव की आध्यात्मिक चेतना ही उसे समग्रता एवं पूरकता देती है। इस दृष्टि का चेतन तत्व 'आत्मीयता' है। हम किसी का 'पूरक' बनकर उस पर उपकार नहीं करते अपितु अपने आत्मीयजन के सहयोग का सुख प्राप्त करते है। 'सहानुभूति' मानवता का गुण है, 'आत्मीयता' के कारण ही सहानुभूति होती है।(वही पृ0382) इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स के विचारो का खण्डन करते हुए पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना है कि, "कार्ल मार्क्स ने जिस प्रेरणा से 'समाज के ठेकेदारों' से लड़ाई की वह 'भूखों के प्रति सहानुभूति' से पैदा हुई थी। सहानुभूति का यह भाव 'भौतिकवाद' से उत्पन्न नही हो सकता। 'सहानुभूति' के अभौतिक प्रेरणा स्रोत पर ही प्रहार कर मार्क्स ने भूल की। सहानुभूति व समाज निष्ठा के बल पर ही व्यक्तियों के द्वारा समाज कल्याण के कार्य करवाए जा सकते है।"(वही) यद्यपि कार्ल मार्क्स ने यह कहा कि, 'प्रत्येक से क्षमता के अनुसार कार्य लेना तथा प्रत्येक को आवश्यकतानुसार देना' ही समानता नहीं है। इस तथ्यालोक में पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना है कि "समानता की कल्पना अप्राकृतिक है। मानवीय समता का आधार तो ममता है, ममता के कारण ही आत्मीयता है। भौतिकवाद ने ममता, सहानुभूति व आत्मीयता सब पर चोट कर मानव की सहज संवेदनशीलता पर चोट की। इससे समाज की बहुत क्षति हुई। एकात्म मानववादी चिंतन इस सत्य की अनुभूति करता है कि समाज के प्रति व्यक्ति की आत्मीयता उसे प्रतिदान में आत्मीयता ही देगी। 'आत्मीयता' व्यक्ति व समाज के सम्बन्धों में सन्तुलन स्थापित करती है।"(वही)

वस्तुतः 'एकात्म मानववाद' भारतीय संस्कृति का नूतन वैश्विक विचार प्रवाह का एक युगानुकूल व्याख्या है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय इसे भारतीय जीवन दर्शन की युगानुकूल व्याख्या करने

का एक अभिनव प्रयास मानते है।(पांचजन्य,24 अगस्त 1964) पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का मानना है कि 'एकात्म मानववाद' केवल भारतीय संस्कृति का युगानुकूल विवेचन ही नही है, वरन् वैश्विक विचारों हेतु 'पूरक' भारतीय चिंतन है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का यह चिंतन सर्वथा उपयुक्त है कि हम भारतीय चिंतन की ऐसी परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न करें जिससे वह नूतन वैश्विक विचार परम्परा का एक समृद्ध एवं सार्थक हिस्सा बन सकें। अपने प्रसिद्ध भाषण के अंश में उन्होंने कहा कि "हमने मानव के समग्र एवं संकलित रूप का थोड़ा विचार किया है। इस आधार पर हम भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता प्रजातंत्र, समता और विश्व एकता के आदर्शों को समन्वित रूप में रख सकेंगे। इनके बीच का विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक होंगे। मानव अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा।"(उपाध्याय, 2014, पृ074)

वस्तुतः 'एकात्म मानववाद' का विचार प्रचलित वादों में न्यूनताओं को दूर कर उन्हें परिपूर्ण बनाने के लिए किया गया। इसकी ऐतिहासिक व तात्विक पृष्ठिभूमि पाश्चात्य व भारतीय विचार से संदर्भित है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने इस विषय में प्रारम्भिक चिंतन पर एक आधारभूत कार्य किया, जिसके विकास का उत्तरदायित्व नूतन पीढ़ियों को लेना होगा।(शर्मा,2015 पृ0386) 'एकात्म मानववाद' के तात्विक सार को पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने बताया है कि, ''हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र 'मानव' होना चाहिए। जो 'यत पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार समष्टि का जीवमान प्रतिनिधि एवं उसका उपकरण है। भौतिक उपकरण मानव के सुख के साधन है, साध्य नहीं। जिस व्यवस्था में, भिन्न रूचि लोक का विचार केवल एक औसत मानव शरीर, मन, बुद्धि व आत्मायुक्त अनेक ऐषणाओं से प्रेरित पुरूषार्थ चातुष्ट्यशील, पूर्ण मानव के स्थान पर एकांगी मानव का ही विचार किया जाए, वह अधूरी है। हमारा आधार 'एकात्म मानव' है जो एकात्म समष्टियों का एक साथ प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। 'एकात्म मानववाद' के आधार पर हमें जीवन की सभी व्यवस्थाओं का विकास करना होगा।"

यद्यपि 'एकात्म मानववाद' की फलश्रुति वैचारिक चिंतन से भी अधिक व्यापक है। इसे वैश्विक दृष्टि व जीवनमार्ग का अभिरूप समझा जा सकता है। श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी जी इसके आदर्शों को समझाते हुए कहते है कि "एकात्म मानववाद प्रत्येक राष्ट्र को अपनी–अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता देगा। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण–कर्म के अनुसार विकास कर विकास का सम्पूर्ण फल समाज पुरूष को अर्पित करता है उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अंग समझेगा। हम सभी मानवता के साथ अपने को एकात्म समझ ले और सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के लिए अपने राष्ट्र की जो विशेषताएं होंगी, प्रगति की जो विशिष्टता होंगी, उनका परिपक्व फल मानवता के चरणों में अर्पित करेंगे। इस तरह हर एक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपना विकास भी करेगा, किन्तु विश्वात्मा का भाव मन में रहने के कारण एक–दूसरे का पोषक, सम्पूर्ण मानवता का पोषक, विश्वराज्य की पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद की रचना की दृष्टि से चरम परिणति होगी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह नितान्त स्पष्ट है कि आधुनिक युग की विभाजक प्रवृत्तियों, मानवीय समस्याओं, त्रासदियों व विषमताओं से निजात का एक ऐसा दिक्सूचक दृष्टिकोण एकात्म मानववाद है, जो प्राचीन भारतीय आदर्शों पर अवलम्वित है किन्तु युगानुकूल सादृश्यता हेतु इनकी अभिव्यञ्जना नूतनतम् स्वरूप में की गयी है। यह सादृश्य रूप में विचारधारा वैश्विक दृष्टि एवं जीवनानुभूति है। यह अवश्यमेव सामष्टिक जीवन–दर्शन का एक महत्त्वाकांक्षी प्रत्याशा है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय महामनीषी, ऋषि द्रष्टा थे जिनके सम्मुख राष्ट्र एवं जनमन की मंगल कामना का भाव ही सर्वोपरि था। उनके जीवनोद्देश्य में सम्पूर्ण सृष्टि एवं ब्रह्माण्ड के कल्याण का भाव निहित है जिसका सारस्वरूप स्तवन 'एकात्म मानववाद' है जो 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' के व्यापक दृष्टिकोण को आत्मसात् करता है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के 'एकात्म मानववाद' द्वारा ही हमें एक ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध कराया जा सकेगा, जो समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान करते हुए भविष्य के भव्यय भारत के निम्रण में सहयोगी बन सकेगा। यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मानुरूप होगा और मानवता में नवीन उत्साह संचरित कर सकेगा। समत्व ही विभ्रांति के चौराहे पर खड़े न सिर्फ भरत का वरन् समस्त विश्व की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक दिशा व दशा हेतु मार्गदर्शन प्रदान करते हुए समस्त मानवता के हित व कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा।

REFERENCES

केलकर, भालचन्द्र कृष्णा जी (2014) *पं0 दीनदयाल उपाध्यायः विचार दर्शन, खण्ड–3* नई दिल्ली, सुरूचि प्रकाशन

पाठक, डॉ0 विनोद चन्द्र (2009) पं0 दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक चिंतन, नई दिल्ली, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस

शर्मा, डॉ0 योगेश कुमार (2001) *आधुनिक राजनीतिक विचारक, भाग–2 (आधुनिक स्वातंत्र्योत्तर)* नई दिल्ली, कनिष्ठा पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीव्यूटर्स,

शरण, परमात्मा *प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं* मेरठ, मिनाक्षी प्रकाशन

उपाध्याय, पं0 दीनदयाल (2014) *एकात्म मानव दर्शन, 'राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना'* नई दिल्ली, सुरूचि प्रकाशन

दीनदयाल उपाध्याय (2014)*एकात्म मानव दर्शनः*, नई दिल्ली, सुरूचि प्रकाशन,

देवधर, विश्वनाथ नारायण, (2015) *पं0 दीनदयाल उपाध्यायः विचार दर्शन, खण्ड–7 व्यक्ति दर्शन,* नई दिल्ली, सुरूचि प्रकाशन

गोलवलकर, माधव सदाशिव (2014) *एकात्म मानव दर्शनः 'परिपूर्ण मानव',* नई दिल्ली, सुरूचि प्रकाशन